



श्रीरिषभदास रांका

## जैन साधना

हर प्राणी सुख की अभिलाषा रखता है और सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील भी रहता है. किन्तु इच्छा और प्रयत्नों के बावजूद भी अधिकांश लोगों को सुख और संतोष नहीं प्राप्त होता. इसलिए यह मानना पड़ता है कि सुखप्राप्ति के मार्ग में कुछ न कुछ भूल अवश्य हो रही है. मानव को सच्चे सुख का मार्ग अनुभवी साधक व सिद्ध पुरुषों ने बताया है. वे कहते हैं कि मनुष्य के अधिकांश दुःख उसके तथा दूसरों के अज्ञान, तृष्णा, मूर्खता या असमता के कारण ही निर्माण होते हैं. हमारे पास सुखप्राप्ति के सभी साधन मौजूद हैं. आत्मा में सुखप्राप्ति की शक्ति है. इसलिये आत्मा को सत् चित् व आनंद रूप माना है. उसमें श्रेय-साधन की अनंत शक्ति भरी हुई है. वह चैतन्य-स्वरूप है. पुरुषार्थ से वह अपने श्रेय-साधन की शक्ति में वृद्धि कर सकता है और उसे आनंद की अवस्था प्राप्त हो सकती है. उसने जो चित्-चैतन्य व शरीर में शक्ति पाई है उसका योग्य उपयोग करके उन्नत व सुखी हो सकता है. पर वह शक्ति निरर्थक बर्बाद हो रही है. उसे साधना द्वारा योग्य काम में लगाना चाहिए.

### भारतीय संस्कृति की साधना

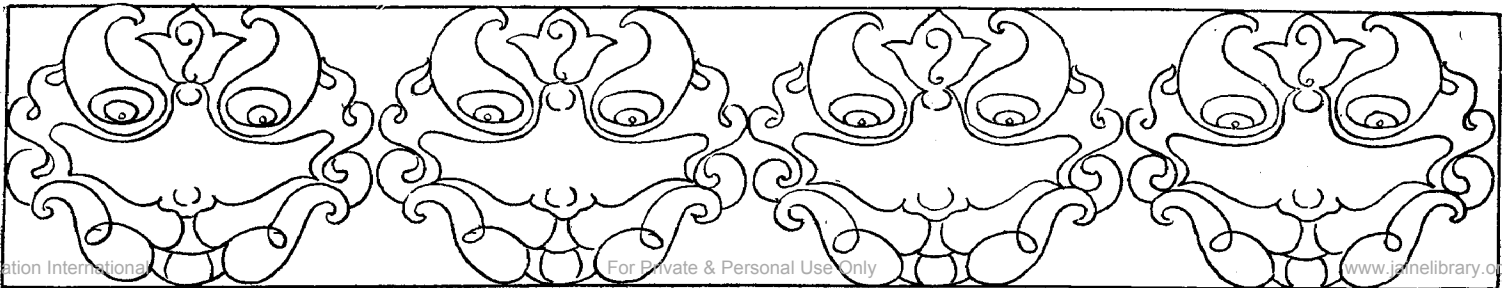
भारतीय संस्कृति की तीन धारार्यें हैं- वैदिक, बौद्ध और जैन. हम देखते हैं कि वैदिक संस्कृति की साधना में पतञ्जलि ने योग के द्वारा दुःखमुक्ति व सुखप्राप्ति का रास्ता बताया. बौद्ध साधना में भी समाधि-मार्ग का वर्णन मिलता है जिससे निर्वाण-प्राप्ति हो सकती है. और जैन साधना में भी कर्मबंधन और उसके परिणामों से मुक्ति पाने का रास्ता बताया है.

### जैनसाधना

जैनदर्शन ने दुःख का कारण कर्म माना है. आत्मा पर कर्म का आवरण आ जाने से मनुष्य सच्चे सुख का रास्ता भूल जाता है और शरीर के प्रति उसका ममत्व हो जाता है. वह शारीरिक सुखों को ही महत्त्व देकर उन्हें पाने के लिए गलत रास्ता अपनाता है. दूसरों को दुःख देने पर कोई सुखी नहीं बनता. पर वह अपने सुखों के लिये सब जीव समान हैं, इस तथ्य को भूलकर दूसरों को कष्ट देने लगता है. जैनदर्शन कहता है कि दूसरों को दुःखी बनाकर सुखप्राप्ति का प्रयत्न अज्ञान है. इस अज्ञान के कारण दुःखवृद्धि के साथ-साथ जन्म-मरण के चक्कर भी बढ़ते हैं. इसलिए आत्मा पर से कर्म का आवरण दूर करना चाहिये. तभी आत्मा की सुप्त शक्तियां जाग्रत होती हैं, जिससे मनुष्य सच्चे सुखका स्वरूप जानकर शारीरिक सुख-दुःखों में विवेक करना सीखता है. अज्ञान, तृष्णा या कषायों द्वारा निर्माण होने वाले दुःख से वह मुक्ति पा जाता है और दूसरों के द्वारा दिये हुए दुःखों को वह शांतिपूर्वक सहन करने की शक्ति पा लेता है. वह दुःखों से विह्वल या क्षुब्ध नहीं बनता.

### मानवता का पूर्ण विकास

कर्मों के आवरण हट जाने पर भी शेष आयु तो उसे भोगनी पड़ती है, नाम से भी वह पुकारा जाता है और जब तक



शरीर है तब तक वेदना भी होती है. उसके लिये आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय कर्मों के आवरण हटना आवश्यक होता है. उनके हटने पर जिसे शुद्ध ज्ञान हो गया है उसे फिर से बंध नहीं होता, क्योंकि साधक सच्चा स्व-रूप जान जाता है. शुद्ध निर्मल तथा पूर्ण सद्गुण युक्त बन जाता है. यही मानवता का पूर्ण विकास है, मनुष्य जीवन की अन्तिम सिद्धि और सार्थकता है.

### सिद्धों के प्रकार

इस प्रकार मानवता का विकास करने वाले दो प्रकार के होते हैं. एक अपनी ही मानवता का विकास करते हुए उसकी सिद्धि करने वाले सिद्ध और दूसरे अपनी मानवता की सिद्धि के साथ-साथ दूसरों को मानवता की वृद्धि का मार्गदर्शन करनेवाले, जिन्हें जैन तत्त्वज्ञान तीर्थंकर सिद्ध कहता है. वे तीर्थ की स्थापना कर दूसरों के विकास का मार्गदर्शन कर मानवता के विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं, दूसरों के दुःख से द्रवित होकर उन्हें कल्याण-पथ का प्रदर्शन करते हैं.

### कर्मों के आवरण

आत्मा पर आवरण डालने वाले कर्मों के विषय में ज्ञानियों ने इस प्रकार विवरण दिया है. दृष्टि और ज्ञान ढंकने वाले कर्मों को मोहनीय और ज्ञानावरण कर्म कहा है. उनके कारण मनुष्य अपने सही रूप को भूलकर अज्ञानी बनता है. सत्य को पहचान नहीं सकता. उसे क्या करना चाहिए, इसका सही ज्ञान नहीं होता. यदि ज्ञान हो भी जाय तो वैसा आचरण हो नहीं पाता. मोहनीय कर्म बाधक बनते हैं. इन कर्मों के आवरणों को हटाना और नये कर्म के बंधन न हों इसकी सावधानी ही साधना है. वह साधना इस प्रकार बताई है:—

मन, वचन और शरीर द्वारा होने वाली बुराई को रोकना साधक के लिये प्राथमिक आवश्यकता है. मन कभी खाली नहीं रहता. वह किसी न किसी विषय में लगा ही रहता है. दिन भर मन में वृत्तियों का प्रभाव चलता ही रहता है. उसमें से अनिष्ट के विचार को वह अपने मन में स्थान नहीं देता. यहाँ तक कि जिसने उसका अहित किया हो ऐसे शत्रु को भी वह अपना उपकारकर्ता ही मानता है, क्योंकि उसने अहित करके सहनशीलता को बढ़ाया. विचारों पर संयम रखकर बुरे विचार मन में न आने से वाचासंयम आता है. साधक के मुँह से असत्य, दूसरे का अकल्याण या अनिष्ट करने-वाली व कठोर भाषा नहीं निकलती. वह सत्य, परिमित, हितकर व मीठी भाषा ही बोलने का प्रयत्न करता है.

जब मन पर काबू हो जाता है, वाणी में संयम आ जाता है तो शरीर से भी कोई ऐसा कर्म नहीं होता जिससे दूसरे को कष्ट पहुँचे या दूसरे का अकल्याण हो. बल्कि उसके द्वारा ऐसे ही कार्य होते हैं जिनमें दूसरों की भलाई हो. इस प्रकार समप्रवृत्ति करते हुये भी उसकी उसमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होती. वह सहज भाव से अपने आत्मगुणों के विकास के लिये सत्प्रवृत्ति करता रहता है.

### व्रत

जब मनुष्य आत्मविकास का पथ लेकर अपने आपको साधनापथ का पथिक बनाता है तो अहिंसा, ब्रह्मचर्य अममत्वादि गुणों की आराधना करता है. दूसरों के प्रति आत्मभाव होना अहिंसा है. इस साधना का अभ्यास दृढ़ करने के लिये प्रथम व्रत लेना आवश्यक हो जाता है. वह दूसरों के प्रति समभाव रखकर जीवन-व्यवहार करता है. किसी को दुःख या कष्ट नहीं पहुँचाता. वैसे ही सत्य का उपासक बनकर भाषा-संयम का अभ्यास बढ़ाता है. समता व सत्य के उपासक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह दूसरे का शोषण न करे, अन्याय से दूसरे की वस्तु का अपहार न करे पर यह साधना तभी संभव है जब वह अपरिग्रह या सादगी को अपनाता है, उसकी जरूरतें सीमित होती हैं. तृष्णापाश काटे बिना मनुष्य उचित परिग्रह की सीमा की ओर जा नहीं सकता और परिग्रह सीमित हुये बिना आत्म-विकास की ओर शक्ति नहीं लगाई जा सकती. इसीलिये उचित परिग्रह की सीमा साधक को बांध ही लेनी पड़ती है. जैसे परिग्रह को सीमित बनाना साधक के लिये आवश्यक है, वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत को भी साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है. उसके बिना



वह आत्मशक्तियों का पूर्ण विकास नहीं कर पाता। जैसे जैन साधना में, अहिंसा सत्य, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य को स्थान है वैसे ही वैदिक विचारपरम्परा की साधना में भी यम नियम को स्थान दिया है और बौद्ध साधना में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

### तप

योगदर्शन में यम नियम के बाद शरीर को साधना के योग्य बनाने के लिये आसन प्राणायाम बताया है तो जैन साधना में तप के द्वारा शरीर को कसने का विधान है। आज तप का अर्थ शरीर-कष्ट बन गया है पर उसका उपयोग शरीर और मन को साधना के योग्य बनाने में होना चाहिए। जैनसाधना में तप के दो प्रकार हैं—बाह्य और आभ्यन्तर. बाह्य तप के छह भेद हैं—अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश.

साधक अपनी सारी शक्ति को आत्मविकास में लगावे, उसका वासना में क्षय न करे, इस दृष्टि से वासनाओं को क्षीण बनाने के प्रयत्नों को तप कहा जा सकता है। यह प्रयत्न मन और शरीर दोनों की ओर से होने चाहिए, तभी सफलता प्राप्त हो सकती है। तप में मनका साथ न मिला तो शरीर से किया हुआ तप देह-दंड या कायक्लेश मात्र ही बन सकता है। शरीर से मन की शक्ति विशेष होने से शारीरिक या बाह्य तपश्चर्या से मानसिक-आभ्यन्तर तपश्चर्या को अधिक महत्त्व दिया गया है। फिर भी साधक को अभ्यास में बाह्य तप भी उपयोगी होता है, उसकी आवश्यकता होती है। उस पर भी विचार करना आवश्यक है।

### अनशन

शरीर व आहार का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। आहार के बिना शरीर चल नहीं सकता। लेकिन यह आहार कितना और कैसा लेना चाहिये, इस जानकारी के अभाव में मनुष्य अधिकतर जरूरत से ज्यादा ही खाता है। इसलिये उसे उपवास करना भी आवश्यक हो जाता है। उपवास में अन्नपाचन में लगने वाली शक्ति बचाकर आत्मचित्तन में लगाई जा सकती है। इसीलिये उपवास को आत्मा के निकट वास करना माना गया है। भोजन को त्याग कर उसके पचाने के लिये खर्च होने वाली शक्ति का उपयोग आत्मचित्तन में किया जाय तो वह अनशन साधना में लाभदायक होता है। पर यदि प्रतिष्ठा या दंभ का कारण बन जाय तो निश्चित ही वह बाधक बनता है। वह कर्ममल को दूर करने के बदले उसे बढ़ाता है।

### अवमोदर्य

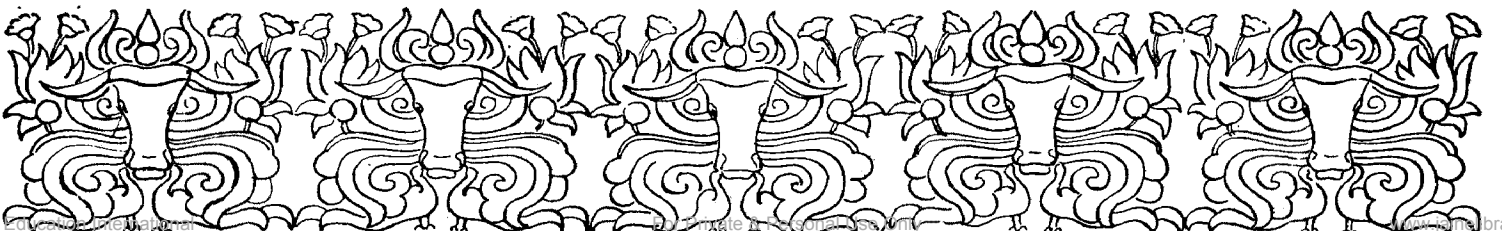
साधक शरीर को जितना आवश्यक हो उतना ही आहार देता है। कम से कम आहार के सहारे अपनी जीवनचर्या चलाता है। उससे अधिक आहार से पैदा होनेवाला प्रमाद नहीं आता और साधना के प्रति जाग्रति बढ़ती है। अप्रमत्तता साधना के विकास में आवश्यक होने से वह भूख से कम खाता है।

### वृत्तिपरिसंख्यान

अवमोदर्य की साधना के लिये वस्तुओं की सीमा आवश्यक है। मनुष्य स्वादवश जो जरूरत से अधिक खा लेता है उसके लिये खाने की वस्तुओं का संक्षेप करना आवश्यक हो जाता है और साधक इस आदत को बढ़ाने के लिये व्रत का सहारा लेता है। खाने की वस्तुएं असंख्य हैं। पर साधक उन्हें सीमित करता है।

### रसपरित्याग

मिताहार के लिये रसपरित्याग भी आवश्यक हो जाता है। इसीलिये तपश्चर्या में रस-त्याग का स्थान महत्त्वपूर्ण है। हमारे विकारों पर नियंत्रण आवे, इंद्रियाँ प्रबल न हों, इसलिये रसपरित्याग साधना में सहायक होता है। इसलिये साधक यह मानकर कि खाने के लिये जीना नहीं है पर जीवन के लिये भोजन है, ऐसा आहार करे जिससे मन स्वस्थ रहे।



## विविक्तशय्यासन

साधना में स्थान का भी महत्त्व है. वह ऐसे स्थान में रहे जहाँ का वातावरण और परिस्थिति साधना के लिये अनुकूल हो. इसलिये उसका एकान्त, निरुपाधिक स्थान में रहना आवश्यक है. इसलिये तप में विविक्त शय्यासन का स्थान है.

## कायबलेश

सर्दी-गर्मी के उपद्रव साधना में बाधक न हों और सदा अप्रमत्त अवस्था बनी रहे, इस दृष्टि से शरीर को सहनशील बनाना आवश्यक है. नहीं तो वैसे प्रसंग आने पर साधक विचलित हो जाता है. सदा स्फूर्ति रहे और प्रतिकूल परिस्थिति का मन पर असर न हो, इसलिये आसनादि द्वारा शरीर को कष्टसहन के योग्य बनाने की आवश्यकता है. इस तप का यही उद्देश्य है.

## आभ्यन्तर तप :

### प्रायश्चित्त

शारीरिक बाह्य तपों की अपेक्षा साधनामार्ग में मानसिक तपों का अधिक महत्त्व है. जीवनशुद्धि तथा आत्मविकास की दृष्टि से सभी धर्मों में मानसिक अभ्यास पर जोर दिया गया है. साधक जब साधना-क्षेत्र में आगे बढ़ता है तब आत्म-आलोचना कर अपनी प्रत्येक शारीरिक क्रिया और मानसिक वृत्ति का शोधन करता है. जब उसे अपने द्वारा हुई भूल मालूम देती है तो प्रायश्चित्त कर फिरसे वह भूल न हो इसका संकल्प करता है. वैसे तो प्रायश्चित्त का श्रमण-परम्परा में महत्त्व था पर भ० महावीर ने उसे दैनिक कार्य-क्रम में जोड़ दिया. उनके पहले २२ तीर्थंकरों की परम्परा में भूल हो तब प्रायश्चित्त लेने का विधान था, पर भगवान् महावीर ने मनुष्य स्वभाव की दुर्बलता को जानकर इसमें यह परिवर्तन किया कि मनुष्य सावधान होकर अपने दैनिक कार्यों का निरीक्षण करे. जान या अनजान में होने वाली भूलों की आलोचना कर वैसे भूलें फिरसे न हों, इसके लिये संकल्प करे. आत्मविकास के लिये व्रतों में कहीं दोष आ जाय, व्रतभंग हो जाय, संकल्पों में ढिलाई आवे तो उसका स्मरण कर आलोचना और प्रायश्चित्त साधक को आगे बढ़ाता है. वह अपने मन, वचन और शरीर से होनेवाले दोषों के लिए जो कुछ करना आवश्यक हो वह करता है.

### विनय

साधना में विनय का अत्यन्त महत्त्व होने से आभ्यन्तर तप में अनुभवियों ने उसे भी स्थान दिया है. अहंकार मनुष्य को नीचे गिराता है और विनय साधना में सहायक होता है. अहंकार ज्ञानियों, अनुभवियों तथा गुरु से ज्ञान व अनुभव प्राप्त करने में बाधक बनता है. जब साधक अपने आपको पंडित या ज्ञानी मान लेता है, मुझे सब कुछ मालूम है, ऐसा समझता है, तब उसका विकास रुक जाता है. साधक को हमेशा जिज्ञासु और विद्यार्थी रहना चाहिये, गुणियों के प्रति आदर भाव रखना चाहिये. जाति, कुल और उम्र से कोई श्रेष्ठ नहीं बनता पर गुणों से ही श्रेष्ठ और पूज्य बनता है. इसलिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विनय भी बताये गये हैं. सतत ज्ञानप्राप्ति का अभ्यास और स्मरण को ज्ञानविनय कहा है, वैसे ही ज्ञानियों के प्रति आदर भी ज्ञान का विनय है.

जब तक सिद्धान्त या तत्त्व के प्रति दृढ़ निष्ठा नहीं होती तब तक साधना-पथ में आगे नहीं बढ़ा जा सकता. इसलिये यथार्थ तत्त्व को जानना और उसके प्रति दृढ़ निष्ठा होना आवश्यक है. यदि शंका हो तो ज्ञानियों और गुरु से शंका-निवारण कर लेना चाहिये. यह दर्शन एवं ज्ञान विनय है. ज्ञान से तत्त्व का ठीक निर्णय हो जाय तब तदनुकूल आचरण या अभ्यास करना चारित्रविनय है.

साधक सदा नम्र होता है, उसे अपनी अपूर्णता का ध्यान होता है. वह अपने से बृद्ध तथा अनुभवियों के प्रति सदा विनयी होता है, जिसे जैन साधना में उपचार-विनय कहा गया है. विनय को मोक्ष का मूल माना गया है.



## सेवा

साधक के लिये सेवावृत्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है. क्योंकि चित्तशुद्धि के साथ-साथ गुणों की उपासना ही उसकी आत्म-शक्ति को बढ़ाती है. विवेकी साधक अपनी आवश्यकताएं घटाकर दूसरों से कम से कम सेवा लेता है और अधिक से अधिक दूसरों के लिये उपयोगी बनता है. जीवन में एक दूसरे की सेवा और सहयोग आवश्यक होता है पर साधक सदा यह ध्यान रखता है कि वह किसी पर बोभरूप न बने और दूसरों से जो सेवा ले उसे चुकाने का प्रयास करे. जैन-साहित्य में सेवा के लिये 'वैयावृत्य' शब्द का प्रयोग किया गया है. उसके दस प्रकार बताये गये हैं, जिसका अर्थ यही है कि जहाँ जैसी सेवा की जरूरत हो वह की जाय.

## स्वाध्याय

साधना में स्वाध्याय का भी अत्यन्त महत्त्व है. अपने ध्येय की जाग्रति और उस पथ में आगे बढ़ने के लिये अनुभवियों के अनुभवयुक्त वचन या ग्रंथों का स्वाध्याय अत्यन्त उपयोगी होता है. यदि साधनामार्ग में कहीं कुछ शंका हो तो अपने से अधिक ज्ञानी और जानकार से शंकानिवारण कर लेना चाहिये. पढ़े हुये अनुभवों तथा पाठों का चिंतन तथा शुद्धतापूर्वक उच्चारण और आये हुये अनुभवों का या धर्म का उपदेश आदि बातें ज्ञानप्राप्ति में निःशंक बनाने, उदात्त तथा परिपक्व बनाने में सहायक होती हैं. इसलिये स्वाध्याय का अत्यन्त महत्त्व है. स्वाध्याय एक प्रकार की प्राचीन-काल में हुये महापुरुषों की सत्संगति है. स्वाध्याय करते समय यदि यह दृष्टि रहे तो हम बहुत लाभान्वित हो सकते हैं.

## व्युत्सर्ग

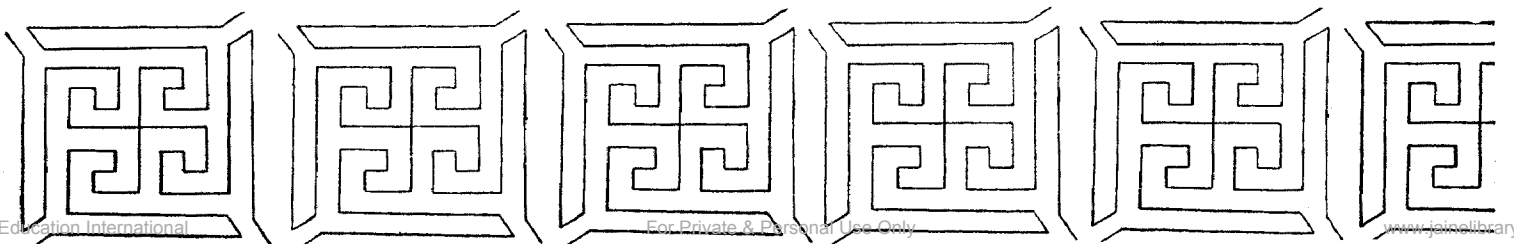
ममता, अहंकार, रागद्वेष तथा क्रोधादि कषायों का त्याग व्युत्सर्ग है. व्युत्सर्ग के दो प्रकार बताये गये हैं—बाह्य और आभ्यन्तर. घर, खेत, धन, संपत्ति, परिवार आदि की आसक्ति का त्याग बाह्य व्युत्सर्ग है और राग, द्वेष, क्रोध, अहंकार आदि आन्तरिक दुर्गुणों का त्याग आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है. चित्त शुद्धि के लिये इन सब बातों का त्याग आवश्यक होता है. साधक प्रातःकाल तथा संध्या समय में, एकान्त में, निरुपाधिक होकर ममतात्याग का चिंतन करे और उसे त्यागने का प्रयास करता रहे तो साधना-पथ में आगे बढ़ता है.

इस प्रकार साधक अपनी तैयारी कर लेता है तब वह ध्यान की ओर आगे बढ़ता है. पतंजलि की साधना में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, यह साधनाक्रम बताया है. प्रकारान्तर से वैसा ही जैन साधना में भी है. आसन शरीर को अप्रमत्त बनाते हैं और प्राणायाम चित्त को स्थिर बनाने में उपयोगी होता है. प्रत्याहार फँसी हुई वृत्तियों को एकाग्र बनाता है तो धारणा संकल्प को धारण करने की शक्ति देती है. इतनी तैयारी हो जाने पर साधक ध्यान की साधना कर चित्त को स्थिर दृढ़ एकाग्र और निर्मल बनाता है जिससे समाधि प्राप्त होती है.

## ध्यान

जैन साधना में पूर्व बताई पार्श्वभूमि तैयार होने पर ध्यान की साधना करने को कहा है. कर्मक्षय के लिए ध्यान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधना है .

ध्यान चित्त को एकाग्र बनाता है. चित्त का स्वभाव है—वह खाली नहीं रहता. किसी न किसी विषय का चिंतन करता ही रहता है. ध्यान के दो प्रकार जैन साधना में बताये गये हैं—एक अशुभ और दूसरा शुभ. चित्त एकाग्र और स्थिर करने से उसकी शक्ति में वृद्धि होती है. चित्त की बड़ी हुई शक्ति से मनुष्य इच्छित कार्य कर सकता है. यदि इस शक्ति का उपयोग वह अशुभ के लिए करना चाहे तो वैसा भी कर सकता है और उसका उपयोग शुभ के लिए भी कर सकता है. इसलिए जैन साधना ने ध्यान के प्रकार बताकर इस विषय का स्पष्टीकरण किया है. आर्त्त और रौद्रध्यान ये अशुभ ध्यान हैं. धर्म तथा शुक्ल ध्यान ये शुभध्यान माने गये हैं.



### आर्त्तध्यान

संसार में इष्टवियोग, अनिष्टयोग, बीमारी तथा वस्तुओं की प्राप्ति की अभिलाषा स्वाभाविक रूप से पाई जाती है। उसके लिए लोग चिन्ता करते हुए भी पाये जाते हैं। अप्रिय की प्राप्ति सुखकर नहीं होती, दुखदायक होती है। मनुष्य अपने आप को उसके चिन्तन में लगाता है। अनिष्टयोग, इष्टवियोग, बीमारी, वेदना आदि को सर्वथा टालना असंभव है। ऐसे अवसरों पर विवेक और धीरज रखकर उन्हें सहन करना चाहिए। वैसा न कर यदि वह व्याकुल बनकर उस विषय की चिन्ता करता है तो अपनी शक्ति व्यर्थ खोता है। उस शक्ति को आत्मविकास में लगाए यही इष्ट है और नये विषयों की प्राप्ति में चित्त को लगाना यह विवेक से टाला जा सकता है। क्योंकि तृष्णा के पीछे चित्त को लगाना हानिकर है।

ध्यान किसी भी विषय का किया जा सकता है। चित्त को एकाग्र करने से शक्ति प्राप्त होती है। शारीरिक सुखप्राप्ति के लिए तपश्चर्या कर उन्हें प्राप्त करने के उदाहरण पुराणों में मिलते हैं। पर यह ध्यान मनुष्य को नीचे गिराता है और दुःखों का कारण बनता है, इसलिए आर्त्तध्यान को अनिष्ट माना गया है।

### रौद्रध्यान

हिंसा, असत्य, दूसरों का शोषण तथा परिग्रह के सतत चिन्तन को रौद्रध्यान कहा गया है। जैसे आर्त्तध्यान का मूल लालसा या तृष्णा है वैसे ही रौद्रध्यान का आधार क्रूरता-हिंसा है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का अनिष्ट चिन्तन, दूसरों को ठगना, असत्य, बेईमानी आदि तरीके सोचने में चित्त को एकाग्र बनाना, दूसरे के धन के अपहार का मार्ग सोचना, परिग्रह की रक्षा का चिन्तन करना आदि रौद्रध्यान में आते हैं। रौद्रध्यान साधक की दृष्टि से अनिष्ट है।

जो ध्यान मनुष्य को ऊँचा उठाते हैं वे धर्म और शुक्लध्यान हैं। ऐसे ध्यान के लिये वज्रऋषभनाराचसंहनन जैसा बलिष्ठ शरीर आवश्यक होता है। निर्बल रोगी तथा पंगु शरीर में वह सहनशक्ति नहीं होती। इसलिए उत्कृष्ट ध्यान के लिये स्वस्थ शरीर का होना आवश्यक है।

### धर्मध्यान

जो ध्यान समता को बढ़ाने और दृढ़ करने के लिये किया जाता है वह धर्मध्यान है। इसके लिये जिन्होंने रागद्वेषादि शत्रुओं पर विजय पाई है, ऐसे अनुभवी पुरुषों के वचनों का, चित्र का तथा उनकी मूर्ति का आलंबन लिया जा सकता है।

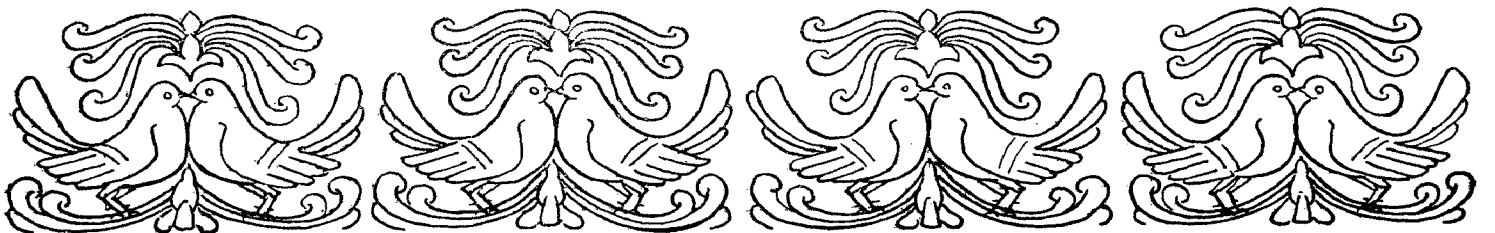
जब मनुष्य आत्मनिरीक्षण कर अपने दोष या कमजोरियों को समझकर उन्हें दूर करने की कोशिश करता है, राग द्वेषादि कषायों को अपने विकास-पथ में बाधक समझकर उन्हें दूर कर सत्यमार्ग पर चलने का चिन्तन करता है, उसपर अपने चित्त को केन्द्रित कर अभ्यास बढ़ाता है तब उस ध्यान को धर्मध्यान कहा जा सकता है।

शुभ-अशुभ कर्मों के फल का चिन्तन शुद्धि की ओर अग्रसर करने में सहायक होता है। संसार का स्वरूप, उसकी विशालता, शाश्वतता, स्थिति या विनाश-शीलता का चिन्तन, विविध द्रव्यों की परिवर्तनशीलता जान लेने पर अनासक्ति बढ़ती है। फिर उसमें व्याकुलता नहीं आती।

इस तरह के ध्यान से भावनाओं की शुद्धि होती है। अनासक्ति और धर्म के चिन्तन से आयुर्कर्म के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं और वह शुक्लध्यान में प्रवेश कर पूर्ण मानवता को प्राप्त होता है। विकासक्रम में धर्मध्यान के बाद शुक्लध्यान आता है।

### शुक्लध्यान

साधक जड़-चेतन के भेदों को समझकर चिन्तन करता है और गहराई में जाकर परमाणु तथा चेतन द्रव्य के संबंधों का भिन्न-भिन्न दृष्टि से विचार करता है तो उसके सदाचार में दृढ़ता आने से चारित्र्यमोहनीय कर्मों का नाश होता है।



जड़ और चेतन द्रव्य पृथक् हैं, फिर भी संयोग से मिल गये हैं. इनमें से किसी एक तत्त्व का आलंबन लेकर उस पर चित्त को निश्चल या एकाग्र किया जा सकता है. इससे ध्यान में एकाग्रता आती है और मन की सुप्त शक्तियों का विकास होता है. अनेक विषयों में भटकनेवाले मन को एकाग्र करने के लिए ऐसी उपमा दी जाती है कि जैसे चूल्हे में जलने वाली एक एक लकड़ी के निकाल लेने पर अपने आप आग बुझ जाती है वैसे ही मन को चंचल बनाने वाले एक एक विषय को दूर कर देने से चंचलता दूर होकर वह निष्प्रकंप बन जाता है. आत्मा पर जो अज्ञान के आवरण थे वे दूर होकर ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है.

ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर श्वासोच्छ्वास आदि शारीरिक क्रियाएं चलती रहती हैं पर वे सहज भाव में प्राकृतिक धर्म के रूप में चलती रहती हैं. उनसे बन्धन नहीं होता. साधक शैल की तरह अकंप बन जाता है जिसे जैन साधना में शैलेशी अवस्था कहा है. उस समय ऐसी अपूर्व अवस्था उत्पन्न होती है जिसमें अन्दर और बाहर की समस्त सूक्ष्म और स्थूल क्रियाएं रुक जाती हैं. मन का व्यापार भी निरुद्ध हो जाता है. आत्मा पूर्ण रूप से परमात्मस्थ हो जाता है. यहीं साधना का अन्त होता है और साधक सिद्ध बन जाता है.

